जादूगर आनंद के लिए

आमुख

ओशो के प्रवचनों में रहस्य और अर्थ का रचनात्मक सम्मिश्रण मिलता है और उनके व्यक्तित्व में तरलता एवं सुदृढ़ता का मणि-कांचन संयोग। वे निर्भीक हैं, फिर भी उनमें उस व्यक्ति की झिझक है जो जाड़े में किसी जल-प्रवाह को पैदल चल कर पार करता हो! वे जागरूक हैं, फिर भी उस व्यक्ति के समान हैं जो चारों ओर अपने पड़ोसियों से भयभीत हो!

वे उस बर्फ की तरह तरल हैं जो पिघल रही हो!

वे ठोस हैं मानों कोई अनगढ़ा काठ हों!

वे प्रशस्त हैं मानों कोई उपत्यका हों!

वे मलिन हैं मानों पंकिल जल हों!

यदि उनके प्रवचन अगाध प्रतीत होते हैं तो इसका कारण यह है कि वे निस्सीम हैं; यदि वे दुर्ग्राह्य हैं तो इसका कारण यह है कि वे जीवंत हैं। ओशो ग्रंथों और विश्वासों के उस पार जाते हैं जहां स्वयं जीवन है। वे चाहते हैं कि हम जीवन से, स्वयं से संयुक्त हो जाएं और हम में इस ज्ञान का उन्मेष हो कि वह वस्तुतः क्या हैं। मोहनिद्रा में डूबा हुआ व्यक्ति अपने को संसार में पाता है सही, परंतु संसार उसे स्वयं से पृथक और नितांत भिन्न दीख पड़ता है। उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसका यह अहं किसी अज्ञात समष्टि का एक खंड-मात्र है, एक ऐसा खंड जो उन सारे अन्यान्य खंडों से कभी तो संत्रस्त होता है, कभी सुखी जिनसे उसका संपर्क स्थापित होता है। इस प्रकार वह जिस स्थिति से वस्तुओं का संचालन करता है वह (स्थिति) उन वस्तुओं से सर्वथा पृथक और बाहर होती है तथा उसका जीवन अपने ही भिन्न-भिन्न खंडों का हस्तविधान अथवा परिचालन-मात्र रह जाता है। जीवन से विच्छिन्न होने के कारण समंजन के लिए वह जो प्रयास भी करता है वह पूर्णता के बोध से नियमित न होने के कारण विफल हो जाता है। इस प्रकार उसका सारा जीवन उन खंडों से ही संघर्ष करने में बीत जाता है जो उसके अनुमान के बाहर थे।

बौद्ध धर्मगुरुओं की तरह ओशो की भी यह मान्यता रही है कि सामान्य व्यक्ति का आंतरिक जीवन बाह्य विखंडन का ही हूबहू प्रतिबिंब होता है। वस्तु-जगत से उसका विच्छेद निज से विच्छिन्न होने का द्योतन करता है और उसे ऐसा लगता है कि वह चाहे जिस बिंदु से स्वयं तक पहुंचने की कोशिश करे, उसे न तो अपनी पूर्णता का एहसास हो सकता है और न ही किसी योजना को कार्यान्वित करने के लिए उसकी सारी शक्तियां केंद्रीभूत हो सकती हैं। जब अपने शब्दों या कार्यों के माध्यम से वह आत्माभिव्यक्ति का प्रयास करता है तब उसे ऐसा प्रतीत होता है कि वह उनमें पूर्णतया--अपनी समस्त सत्ता के साथ--वर्तमान नहीं हो सकता है और चूंकि उसकी प्रतिक्रियाएं उसके किसी खंड-विशेष से ही अनुमोदित एवं निस्सृत होती हैं, इसलिए उन्हें पूर्ण आप्तता भी मिली नहीं होती। कोई भी व्यक्ति तब एक एकनिष्ठ और हार्दिक नहीं हो सकता जब तक उसे अपनी पूर्णता की उपलब्धि नहीं हो गई रहती। जब तक उसकी क्रिया में कर्ता अपनी पूर्णता में वर्तमान नहीं रहता तब तक क्रिया दिखावे की क्रिया--अभिनय-मात्र--रहती है, असत्य होती है। जिस अनुपात में हम स्वयं और जगत से विच्छिन्न होते हैं उसी अनुपात में हमारा आंतरिक जीवन तथा जगत के साथ हमारे व्यवहार असत्य हुआ करते हैं। अपने

सच्चे स्वरूप से अनभिज्ञ होना ही इन दोनों विच्छेदों का मूल कारण है। जीवन से उन्मूलित एवं अपने ही स्वरूप से अनभिज्ञ होने के कारण हम दुखी हैं। ओशो का लक्ष्य मानवता को इस दुख से मुक्त करना है। ध्यान-संप्रदाय के के आचार्यों की तरह वे भी कहते हैंः

सामने शून्य जगत में जो परिवर्तन हो रहे हैं

वे अज्ञान के कारण ही यथार्थ दीख पड़ते हैं;

सत्य के पीछे दौड़ने की कोशिश मत करो,

केवल मन की सारी आस्थाओं और विचारों को छोड़ दो।

'लंकावतारसूत्र' में कहा गया है कि परमार्थ (परम सत्य) आर्यज्ञान के माध्यम से उपलब्ध आंतरिक अनुभूति की अवस्था है और चूंकि यह शब्दों और विचारणाओं की परिधि के बाहर है, इसलिए इने द्वारा इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। ओशो भी कहते हैं कि जहां परम सत्य आत्म-अनात्म के विरोध से परे होता है, वहीं दूसरी ओर शब्द द्वैत-मूलक चिंतन से उत्पन्न होते हैं। परम सत्य वह आत्मा ही है जो सभी बाह्य एवं आयंतर रूपों से मुक्त होती है। इस कारण शब्द आत्मा का वर्णन नहीं कर सकते, विवेक-बुद्धि इसे प्रकाशित नहीं कर सकती। 'द्वैत के साथ रुकना' अशोभन हैः

ज्योंही सत्-असत का द्वैत खड़ा होता है,

भ्रांति पैदा होती है, मन खो जाता है।

ओशो का लक्ष्य वही है जो ध्यान-संप्रदाय के धर्मनायकों का लक्ष्य माना जाता रहा हैः

धर्मग्रंथों से परे एक विशेष संप्रेषण;

शब्दों और वर्णों पर निर्भर न होना;

मनुष्य की आत्मा की ओर सीधा संकेत;

अपने स्वभाव का साक्षात्कार और बुद्धत्व की प्राप्ति।

हम अपने मन को पहचानें, देखें। इसकी गति-विधि का निरीक्षण करेः

जिसे तुम चाहते हो, उसे उसे विरुद्ध खड़ा कर देना।

जिसे तुम नहीं चाहते--मन का सबसे बड़ा रोग है।

जब पथ के गूढ़ अर्थ का पता नहीं होता,

तब मन की शांति भंग होती है, जीवन व्यर्थ होता है।

निरीक्षक पक्ष-ग्रहण न करे, बल्कि अपनी वासनाओं, विचारों को ऐसे ही देखे 'जैसे कोई सागर पर खड़ा हो, सागर की लहरों को देखता हो।' कृष्णमूर्ति ने इसे निर्विकल्प सजगता कहा है। यह बिल्कुल तटस्थ निरीक्षण है।' जेन निकाय (ध्यान-संप्रदाय) के धर्माचार्यों के अनुसारः

धर्म-पथ में कठिनाइयां नहीं होती;

केवल यह किसी का पक्ष-ग्रहण नहीं करता,

वरन घृणा और प्रेम से परे होकर

यह पूर्ण और निरावरण प्रकट होता है।

पथ अनंत शून्य की तरह पूर्ण है,

न कुछ अधिक है और न कुछ कम;

जब हम चुनाव करते हैं,

तभी इसकी तथता अदृश्य हो जाती है।

बाहरी बंधनों का पीछा मत करो

और न अंतस के शून्य में ही रमा;

जब मन वस्तुओं के अद्वैत में शांतिपूर्वक निवास करे

तब द्वैत का आप ही विलोप हो जाता है।

सत्य की सहज अनुभूति पर बल देते हुए ओशो कहते हैं कि हम इसके संबंध में लच्छेदार प्रवचनों के श्रवण-मात्र से संतुष्ट न होकर जीवन की गंगा में उतरें और उसके सहज अमृत का पान करें। सत्य की प्यास तब तक नहीं मिटती जब तक हम यथार्थ से संजीवन जल का पान नहीं करते। आत्मज्ञान और मोक्ष की उपलब्धि केवल सुनते और सोचने से नहीं होती। कल्पना कीजिए कि किसी मरुभूमि में--जहां की धरती तप रही हो और जहां न वृक्षों की शीतल छांह हो और न जलाशय, कोई यात्री पश्चिम से पूर्व की ओर जा रहा है। रास्ते में उसकी भेंट एक ऐसे यात्री की होती है जो पूर्व से आ रहा है और वह उससे पूछ बैठता हैः 'महाशय, मुझे बहुत प्यास लगी है, क्या आप बता सकते हैं कि मुझे वह जलाशय कहां मिलेगा जहां मैं अपनी प्यास बुझा सकूंगा?' पूर्व से आनेवाला यात्री कहता हैः 'मित्र, कुछ दूर जाने पर तुम्हें दो पगडंडियां मिलेंगी। एक दाहिनी और दूसरी बाई ओर जाती है। तुम उस पर चलो जो दाहिनी ओर जाती है। कुछ दूर चलने पर तुम्हें एक जलाशय मिलेगा और वहीं प्राणों को परितृप्त करनेवाला अमृत-तुल्य शीतल जल और छांह भी।' क्या जलाशय और छांह के वर्णन से वह प्यासा यात्री परितृप्त हो गया होगा? उसे शांति तो तभी मिली होगी जब जलाशय के पास पहुंच कर उसने उसके जल में स्नान किया होगा और उसका जल पीकर अपनी प्यास बुझाई होगी। धर्म की बातें सुनने, उन पर विचार करने और बुद्धि की सहायता से उन्हें समझ लेने से ही कोई ज्ञानी नहीं हो जाता। यदि तथागत एक और कल्प तक जीवित रहकर हमें इस बात के लिए आश्वस्त कर लेते कि अमृत का स्वाद, उसकी सुरभि, उसकी संजीवनी शीतलता अपूर्व होती है, तो क्या हम उनके वर्णनों से अमृत का स्वाद चख लेते? हमें इस बात का ज्ञान हो जाता कि अमृत कैसा होता है? उनके वर्णनों से क्या सचमुच अमृत का पान कर लेते?

कदापि नहीं।

केवल श्रवण और चिंतन से हमें प्रज्ञापारमिता के सच्चे स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता।

जिस प्रकार ओशो के प्रवचन, उनके शब्द उनकी निजी अनुभूतियों से निस्मृत होते हैं, उसी प्रकार हमार धर्म, हमारा सत्य हमारे जीवन में न्यस्त और हमारी निजी अनुभूतियों पर आधारित रहे। यदि घर लौटने की अभीप्सा हो तो हम अपनी राह स्वयं ही खोज निकालें। सत्य की खोज कर रहे हों तो जीवन में पुनः प्रवेश करें जिससे वस्तु-जगत अपना हो जाता है; हम उसके प्राणों में उसी प्रकार स्पंदित होने लगते हैं जिस प्रकार वह हमारे प्राणों में स्पंदित होने लगता है। जीवन उन अनेकानेक खंडों का संग्रह-मात्र नहीं रह जाता जिनका संबंध केवल बाह्य एवं दैवकृत होता है। इसकी सजीव पूर्णता में खंडों का अपना अस्तित्व तो रहता ही है, पर साथ ही वे समग्र के साथ भी पूर्णतया संयुक्त हो जाते हैं। सभी पदार्थों की एकता उसके आंतरिक जीवन की अखंडता में प्रतिबिंब होने लगती है और उसके बाएं हाथ को दाहिने हाथ की गतिविधि का पूरा-पूरा पता रहने लगता है। उसकी शक्तियां अपनी ही सत्ता की भिन्न-भिन्न टुकड़ियों के परस्पर संघर्ष के कारण छिन्न-भिन्न नहीं होती, जिसके परिणामस्वरूप जीवन के प्रत्येक पल के प्रति वह सजग रहता है, उसका उपयोग करता है। उसके क्रिया-कलाप उसके व्यक्तित्व की समग्रता से उत्पन्न होने के कारण समग्रता से मंडित होते हैं, उसका जीवन खंडों से परिचालित नहीं होता और न खंडों का परिचालन-मात्र होता है।

जीवन और स्वयं के साथ ऐसे निरुपाधिक संयोग को जीवन की स्वीकृति अथवा उसके साथ पुनमैत्री-मात्र नहीं कह सकते। विवश होकर अपने भाग्य से संतुष्ट हो रहने में अथवा संसार जैसा भी हो उसे उसी रूप में स्वीकृत कर लेने में द्वैत अवश्य है, क्योंकि तब भी हम उससे पृथक होते हैं जिसके साथ हमारा समझौता हुआ रहता है। स्वीकृति और त्याग, दोनों के मूल में पार्थक्य का भाव रहता है। परंतु किसी के साथ पूर्णरूपेण एक हो जाना स्वीकृति और निरसन से परे होता है। ऐसे एकीकरण का मूलाधार निस्स्वार्थ प्रेम है। प्रेम का यही चमत्कार है कि जहां एक ओर तो वह तर्क के नियमों का अतिक्रमण पर व्यक्तित्व से ऊपर उठ जाता है, वहीं दूसरी ओर वह व्यक्तित्व को पोषित और समृद्ध करता है। प्रेम पार्थक्य की भावना पर विजय पाता है, पर इस भावना को मिटने नहीं देता। यदि पार्थक्य ही अंतिम सत्य होता तो न तो सच्चे संपर्क की संभावना रह जाती और न सच्चे प्रेम की। इसके विपरीत यदि पार्थक्य न होता तो वे ध्रुव भी नहीं होते जिनके बीच प्रेम फलित होता है। इस प्रकार यदि अ और ब में प्रेम है तो इसमें संदेह नहीं कि यद्यपि अ अ है और ब ब, फिर भी अ ब है और ब अ। जीवन के साथ ऐसा ही प्रेमपूर्ण संयोग स्थापित करना ओशो का लक्ष्य है।

ध्यान-संप्रदाय के धर्मगुरुओं के समान उन्होंने भी प्रेम के महत्व को गुणगान किया है और बताया है कि सच्चे प्रेम में भय नाम की कोई चीज नहीं होती। धर्मभीरु लोग तथा ईश्वर से डरनेवाले पुजारी धार्मिक नहीं होते। जब जीवन अपने प्रत्येक पल में परिपूर्ण होता है तब उसमें कल की चिंता का स्थान नहीं रह जाता। चिंता तो जीवन से विच्छिन्न होने का प्रमाण है; इसका आधार यह भय है कि हमारी आशाएं फलीभूत नहीं होंगी अथवा हमने क्षण भर के लिए जिसे पकड़ रखा है वह हमसे खो जाएगा। ओशो यह नहीं मानते कि प्रेम के जीवन में समस्याएं उत्पन्न नहीं होतीं; वस्तुतः चुनौतियां और संघर्षों के ताने-बाने से ही जीवन का सच्चा निर्माण होता है। जहां जीवन के साथ संयोग होता है, वहां समस्याएं अहंकार द्वार प्रक्षिप्त न होकर यथार्थ होती हैं और वहीं उनके उत्तर कृत्रिम एवं ढुलमुल न होकर रचनात्मक तथा हार्दिक होते हैं। जीवन के साथ समंजित और अभिन्न रहनेवाला व्यक्ति भी एक-न-एक दिन मरता ही है, पर उसकी मृत्यु विशिष्ट प्रकार की होती है। चूंकि मृत्यु उसे बाहर से धराशायी नहीं करती, इसलिए वह उससे भयभीत नहीं होती। वह अपनी मृत्यु के साथ भी उसी प्रकार एकरूप एवं अभिन्न रहता है जिस प्रकार अपने जीवन के साथ। वस्तुतः एक विचित्र प्रकार से वह जीवन-मरण से परे होता है। उसके लिए नित्यता (इटरनिटी) कोई मरणोत्तर दशा नहीं होती; वर्तमान क्षण की अनंतता को काम में लाना ही उसकी दृष्टि में नित्यता का जीवन है।

ओशो द्वार प्रदत्त निम्नलिखित दस सूत्र चिरस्मरणीय हैः

1. किसी की आज्ञा कभी मत मानो जब तक कि वह स्वयं की ही आज्ञा न हो;
2. जीवन के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है;
3. सत्य स्वयं में है, इसलिए उसे और कहीं मत खोजना;
4. प्रेम प्रार्थना है;
5. शून्य होना सत्य का द्वार है; शून्यता ही साधन है, साध्य है, सिद्धि है;
6. जीवन है, अभी और यहीं;
7. जीओ, जागे हुए;
8. तैरो मत--बहो,
9. मरो प्रतिपल ताकि प्रतिपल नए हो सको;
10. खोजो मत; जो है--है; रुको और देखो।

वे तैरने की सलाह न देकर बहने का परामर्श देते हैं। उनकी दृष्टि में हमारी महत्वाकांक्षाएं जीवन को आमूल विषाक्त कर डालती हैं। वे जानते हैं कि--

यदि योग्यता की पदमर्यादा न बढ़े तो न बिग्रह हो और न संघर्ष।

यदि दुर्लभ पदार्थ वरीय न बनें तो लोग दस्युवृत्ति से भी मुक्त रहें।

यदि उसकी ओर जो स्पृहणीय है उनका ध्यान आकृष्ट न किया जाए तो उनके हृदय अनुद्विग्न रहें।

इसलिए संत और ज्ञानी अपनी शासन-व्यवस्था में उनके उदरों को भरते किंतु उनके हृदयों को शून्य करते हैं; वे उनकी हड्डियों को दृढ़तर बनाते पर उनकी इच्छाशक्ति को निर्बल करते हैं।

रुकना और देखना अनिवार्य है:

पकड़ने और भरने से रुक जाना ही अधिक श्रेयस्कर है।

यद्यपि तलवार को तीक्ष्ण करने में आप इसकी धार को महसूस कर सकते हैं,

परंतु दीर्घावधि तक इसकी तीक्ष्णता का आश्वासन नहीं दे सकते।

सोने और हीरे से भरे हुए भवन की कोई रक्षा नहीं कर सकता।

समृद्धि और सम्मान से औद्धत्य उत्पन्न होगी ही; इसलिए उनके पीछे-पीछे असत का चलना स्वाभाविक है।

कार्य की सफल निष्पत्ति के उपरांत (जब कर्ता का यश फैलने लगे) ओझल हो जाना ही स्वर्गिक ताओ है।

जेन तत्वज्ञानियों के अनुसार परमात्मा जीवन का पर्याय है। वह हमसे परे नहीं है, बल्कि हममें ही है, हम वही हैं। ओशो भी कहते हैं कि जो जीवन को जान लेता है, वह सब जान लेता है--जीवन के अतिरिक्त और कोई परमात्मा नहीं है। अपने मनोभावों के समुचित संप्रेषण के लिए वे द्वैतमूलक भाषा का प्रयोग करते हैं, उन लोगों की भाषा में अपने मनोभावों को व्यक्त करते हैं जो द्वैत के दास हैं, पर साथ ही वे यह भी चाहते हैं ऊर्ध्वगमन की यात्रा में हम इस भाषा तक ही न रुककर इससे आगे बढ़ें। ओशो भी जेन धर्माचार्यों की तरह कहते हैं कि सच्चे धर्म की जड़ें व्यक्तिगत अनुभूति में होती हैं और सभी कार्य तभी तक उपयोगी होते हैं जब तक वे, तत्त्वतः, सर्जनात्मक हैं। परंतु वे कार्य जो किसी संप्रदाय या धर्म-निकाय के सिद्धांतों का अंधानुगमन-मात्र करते हैं अथवा उनके ही सिद्धांतों से अनुशासित होते हैं, सर्जनात्मक नहीं हो सकते। यही कारण यह कि विश्व से सभी तत्त्वदर्शी सर्जक और क्रांतिकारी रहे हैं। यदि बुद्ध भी अपने समसामयिकों की चित्तवृत्ति से प्रभावित होकर उनका-सा ही आचरण करते तो इतिहास की दृष्टि में उनके अस्तित्व का क्या मूल्य होता?

ध्यान-संप्रदाय के आचार्यों के इस मत को आचार्य रजनीश भी स्वीकार करते हैं कि न कहीं कोई 'सर्जनहार', 'जगत्कर्ता', 'जगदीश्वर' या 'विधाता' है और न कहीं कोई भगवान जैसी चीज। स्वयं के अतिरिक्त ऐसा कोई भी व्यक्ति या वस्तु नहीं जिस पर हम निर्भर हो सकें। हमें यह स्वीकार करना होगा कि जहां बुद्धदेव, लाओत्से, ईसा मसीह प्रभृति चेतनाओं की अनुभूतियों में मौलिक समानता मिलती है, वहीं दूसरी ओर उनके अनुयायियों द्वार रचे गए धर्मों के स्वांग में विषमता ही अधिक है, समानता कम। चूंकि सत्य का संबंध व्यक्तिगत अनुभूति से है, इसलिए संप्रदायों से, उनकी अराजकता से, इसे मुक्त करना ही होगा। ओशो जिसे परम सत्य कहते हैं उसे उस बौद्धिक तल पर ग्रहण नहीं किया जा सकता जिस पर हम जीवन की भिन्न-भिन समस्याओं को ग्रहण करते या समझने की चेष्टा करते हैं।

जब अद्वैत का पूरा ज्ञान नहीं होता,

तभी दो तरह की हानियां होती हैं--

सत्ता की अस्वीकृति इसके नितांत निषेध की ओर प्रवृत्त कर सकती है जब कि शून्यता की स्वीकृति स्वयं अपने ही निषेध का कारण बन जाती है। शब्दबाहुल्य और ऊहापोह--

इनके साथ रहना ही लक्ष्य से दूर भटक जाने का प्रमाण है;

इसलिए छोड़ें हम शब्दों को, त्यागें अपनी बुद्धिक्रियाओं को... ।

मूल की और लौटने पर ही अर्थ का लाभ होता है।

जब हम बाहरी वस्तुओं का अनुगमन करते हैं, विवेक का लोप हो जाता है।

ज्योंही हम भीतर से प्रबुद्ध होते हैं,

दृश्य जगत की शून्यता के उस पार चले जाते हैं।

ओशो के 'उपदेशों' को समझने के लिए दृष्टि की नमनीयता एवं उदारता अनिवार्‍य है। नमनीयता मुक्तचित्तता का पर्याय है। उनके प्रवचनों में दृष्टि की उन्मुक्तता का वैसा ही आह्लादजनक वातावरण मिलता है जैसा जेन धर्मनायकों की शिक्षाओं में। गौतम बुद्ध की तरह वे भी कहते हैंः 'हम अपना दीप आप बनें, अपनी ही शरण में जाएं; किसी बाहरी शरणालय की खोज न करें। सत्य के दीपक को पकड़ रखें, सत्य के आसरे को न छोड़ें। स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य शरण की तलाश न करें। वे लोग, जो आज या कल--मेरी मृत्यु के अनंतर--अपना दीपक आप बनेंगे, जो किसी बाहरी आसरे पर निर्भर न होंगे वरन सत्य को अपना दीपक मान उससे ही संलग्न रहेंगे, जो सत्य को अपना आसरा मान उसे पकड़ रखेंगे और अन्य किसी आश्रय की तलाश नहीं करेंगे, जो अपने सिवा किसी अन्य पर निर्भर नहीं होंगे--वे लोग (ज्ञान के, सत्य के) सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होंगे।'

सिद्धांतों ने सत्य की बुरी तरह हत्या कर दी है। लोग अपने भीतर देदीप्यमान आत्मा को नहीं देखते, सिद्धांतों में परमात्मा की तलाश करते हैं।

कहा जाता है कि शोदाई एरो जो ध्यान की शिक्षा ग्रहण करना चाहता था, बासो के पास आया। ध्यानाचार्य ने पूछाः तुम्हारा आना किस लिए हुआ है?'

'मुझे ज्ञान चाहिए, मैं बुद्ध-ज्ञान की प्राप्ति के लिए लालायित हूं।'

'बुद्ध-ज्ञान की प्राप्ति असंभव है, ऐसे ज्ञान का संबंध शैतान से है।'

जब एरो ने आचार्य की बात नहीं समझी तब आचार्य ने उसे सेकितो नामक एक अन्य ध्यानाचार्य के पास भेज दिया। ऐसा ने आते ही सेकितो से पूछाः

'बुद्ध कौन है?'

'तुममें बुद्धत्व के लक्षण नहीं है?'

'पशुओं के बारे में आपकी क्या राय है?'

'उनमें है।'

'तुम मुझमें क्यों नहीं?' एरो ने स्वाभाविक जिज्ञासा से यह प्रश्न किया।

'क्योंकि तुम पूछते हो।' सेकितो ने जवाब दिया।

आचार्य के इस कथन से एरो की उलझन मिट गई और उसे ज्ञान हो गया।

आचार्यजी भी चाहते हैं कि व्यक्ति मान्यताओं और विश्वासों में न पड़े, क्योंकि वह दिशा अनुभव और ज्ञान की दिशा नहीं है। विचार कभी भी ज्ञात के पार नहीं ले जाते।

वे जीवन की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं।

जीवन है अभी और यहीं।

उसमें उतरा जा सकता है।

मृत्यु या तो भविष्य में है या अतीत में वर्तमान में कदापि नहीं। लेकिन जीवन तो सदा वर्तमान में है, वह वर्तमान ही है। इसलिए उसे जाना जा सकता है, उसे जिया जा सकता है--उसके संबंध में विचार करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः उसके संबंध में विचार करनेवाले लोग उसे चूक जाते हैं--कारण, विचार की गति अतीत और भविष्य में ही होती है। विचार वर्तमान में नहीं होता; वह भी मृत है, मृत्यु की सहधर्मी है। उसमें जीवन के तत्त्व नहीं हैं।

इसलिए जीवन का विचार नहीं हाता, होती है अनुभूति।

अनुभूति है निर्विचार, निःशब्द, मौन, शून्य। इसलिए निर्विचार चैतन्य को वे 'जीवनानुभूति का द्वार' कहते हैं। जीवन को जान लेनेवाले लोग मृत्यु को भी जान लेते हैं, क्योंकि मृत्यु जीवन को न जानने से पैदा हुआ भ्रम-मात्र है।' जो जीवन को नहीं जानता, वह स्वभावतः शरीर को ही 'स्वयं' मान लेता है। चूंकि शरीर मरता-मिटता है और इसकी इकाई विसर्जित होती है, इसलिए इससे ही इसके पूर्ण अंत होने की धारणा पैदा होती है। इसके भय से पीड़ित व्यक्ति 'आत्मा अमर है', आत्मा अमर है' का जप करने लगते हैं। लेकिन यह दोनों धारणाएं एक ही भ्रम से उत्पन्न होती हैं। वे एक ही भ्रांति के दो रूप और दो प्रकार के व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं हैं। लेकिन स्मरण रहे कि दोनों की भ्रांति एक है और दोनों प्रकार से वही भ्रांति मजबूत होती है।

-डाक्टर रामचंद्र प्रसाद